इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के मायने

मनोज चाहिल एवं फिरोज़ अहमद

“सरकारी स्कूलों की खराब गुणवत्ता और खस्ताहाल चिन्ता का एक विषय रहा है। सरकारी स्कूलों की इस हालात की एक वजह नौकरी पेशा और मध्यम वर्ग द्वारा अपने बच्चों को इन स्कूलों में न भेजना माना जाता रहा है। हाल ही में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने एक फैसला दिया है। इस फैसले के क्या मायने हो सकते हैं? क्या इस निर्णय के बाद स्कूलों की तस्वीर बदलेगी? क्या यह निर्णय समान स्कूल व्यवस्था की ओर बढ़ने में मददगार होगा? यह लेख इन्हीं सवालों पर चर्चा करता है।”

अगस्त 18, 2015 को आए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के उस निर्णय ने शिक्षा जगत में एक बार पुनः उस बहस को खड़ा कर दिया है जिसमें सरकारी कर्मचारियों, जनप्रतिनिधियों, जजों और सरकार से किसी तरह का लाभ प्राप्त करने वालों को अपने बच्चों को उत्तर प्रदेश राज्य के प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाने को कहा गया है। इससे एक बार पुनः सार्वजनिक वित्त पोषित पड़ोस आधारित समान स्कूल व्यवस्था के विचार को बल मिला है। इस फैसले के विरोध में भी कई लोगों तथा संगठनों के सुर सुनाई पड़ते हैं जो इसे व्यक्ति के ‘चयन’ तथा ‘स्वतंत्रता’ के अधिकार के हनन के रूप में देखते हैं। वहीं कुछ लोगों का यह भी मानना है कि खस्ता हाल सार्वजनिक स्कूलों में अपने बच्चों को जबरन भेजने का उच्च न्यायालय का यह आदेश नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। प्रस्तुत आलेख इन्हीं पक्षों को ध्यान में रखते हुए इस फैसले की प्रासंगिकता तथा इसके दूरगामी परिणामों को समझने की एक कोशिश है।

न्यायालय का आदेश

न्यायालय के समक्ष मूल मुद्दा राज्य के प्राथमिक स्कूलों में नियुक्तियों व प्रोन्नतियों से जुड़े वाद थे। न्यायाधीश ने इन्हें 5 प्रकारों में वर्गीकृत करके अपने फैसले सुनाए। इनमें योग्यता सूची बनाने में शिक्षक पात्रता परीक्षा को नज़रअंदाज़ करने को अवैधानिक ठहराया गया, उच्च पद की रिक्तियों को प्रोन्नति के साथ नई नियुक्तियों से भरने को वैध ठहराया गया व स्नातक स्तर की कुछ प्रोफेशनल डिग्रियों को शिक्षण के लिए स्नातक की शर्त को पूरा करने हेतु मान्य ठहराया गया। आदेश को समझने के लिए इसके कुछ महत्वपूर्ण हिस्सों को देखना प्रासंगिक होगा।

अनुच्छेद 79 में कहा गया है कि शिक्षा विभाग व अधिकारी प्राथमिक शिक्षा की खस्ता हालत के लिए ज़िम्मेदार हैं। यह रेखांकित करते हुए कि नवंबर 2013 में राज्य में सहायक शिक्षकों के 2.7 लाख पद

रिक्त थे, न्यायाधीश इसके लिए भर्ती नियमों को लेकर चलताऊ व अगम्भीर रवैये को दोषी ठहराते हैं।

अनुच्छेद 80 में स्कूलों को तीन वर्गों में बांटा गया- सरकारी, जिन्हें 'आम आदमियों के स्कूल' कहा गया जिनमें कि 90 प्रतिशत बच्चे पढ़ते हैं; अर्ध-विशिष्ट और विशिष्ट।

अनुच्छेद 81 में इस विडंबना को स्वीकार किया गया है कि विशिष्ट वर्गों की सीमित आबादी को लक्षित करने वाले स्कूल 'पब्लिक स्कूल' कहलाते हैं। इनमें प्रवेश के पैमाने काफी सख्त हैं और मुख्यतः उच्च संसाधनों तक पहुंच रखने वालों तक सीमित हैं। इनके शिक्षक स्टाफ को श्रेष्ठ कहा गया।

अनुच्छेद 82 अर्ध-विशिष्ट स्कूलों के बारे में कहता है कि इनके संसाधन तो इतने श्रेष्ठ नहीं हैं मगर शिक्षक स्टाफ पर्याप्त रूप से अच्छा है।

अनुच्छेद 83 में 'आम आदमियों के स्कूलों' को उनके स्कूल कहा गया है जो खर्चा वहन नहीं कर सकते हैं।

अनुच्छेद 84 कहता है कि राज्य के स्कूलों की संसाधनात्मक दुर्गति का कारण प्रशासन का इनसे सच्चा जुड़ाव न होना है और हर वह व्यक्ति जो आर्थिक सामर्थ्य रखता है, अपने बच्चों को अर्ध-विशिष्ट या विशिष्ट स्कूल भेजता है।

अनुच्छेद 86 कहता है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षण का स्तर इस दुर्व्यवस्था की सबसे अधिक मार झेलता है और वोट पाने के राजनैतिक कारणों से ऐसे लोगों की भर्ती की जाती है जो बिल्कुल नाकाबिल हैं तथा जिनसे 'वे' अपने बच्चों को पढ़ाना नहीं चाहेंगे।

अनुच्छेद 87 में कहा गया है कि 'आम आदमियों के स्कूलों' के स्तर को गिराने की प्रतियोगिता हो रही है और राज्य को अपने खज़ाने से वेतन व लाभ प्राप्त करने वालों को बाध्य करना चाहिए कि वे अपने बच्चों को राजकीय बोर्ड के प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाएं। इससे सामाजिक संबंध बेहतर होंगे तथा 'आम आदमियों' के बच्चों को तथाकथित उच्च या मध्यम वर्गों के बच्चों के साथ घुलने-मिलने के मौके मिलेंगे जिससे कि उन्हें एक अलग तरह का माहौल, आत्मविश्वास व अवसर प्राप्त होगा।

अनुच्छेद 88 में जज ने कहा कि इस तरह की अनिवार्यता से ही प्रशासन व उसके अधिकारी गंभीर होंगे और उचित व्यवस्था सुनिश्चित करेंगे।

अनुच्छेद 90 में न्यायाधीश ने आदेश दिए कि मुख्य सचिव, अन्य अधिकारियों के साथ सलाह करके यह सुनिश्चित करेंगे कि सरकारी, अर्ध-सरकारी व स्थानीय निकायों के कर्मचारी, जनप्रतिनिधि, न्यायाधीश और जनकोष से किसी भी तरह का लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति अपने बच्चों को राज्य बोर्ड के प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाएं। ऐसा नहीं करने पर उन्हें हर महीने उनके बच्चे के स्कूल की फीस के बराबर 'जुर्माना' जनकोष में जमा कराना होगा जिसका इस्तेमाल बोर्ड के स्कूलों को सुधारने के लिए किया जाएगा।

बहस

आज के दौर में जब साझी स्कूल व्यवस्था के विचार को भुलाने-दबाने में नीति-निर्माता ही नहीं समाज का एक बड़ा हिस्सा बहुत आगे निकल गया है, इस आदेश को उम्मीद की एक नई किरण की तरह देखा जा रहा है। इसने एक बहस जीवित रखने और सत्ता पर दबाव बनाने का अवसर उपलब्ध कराया है। यह सच है कि आदेश समान स्कूल व्यवस्था की बात नहीं करता और अपने को सिर्फ प्राथमिक स्कूलों तक सीमित रखता है लेकिन यह शिक्षा से सरोकार रखने वालों की जिम्मेदारी है कि इसे लोगों के बीच कैसे ले जाया जाता है। दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के छात्रावास में इस संदर्भ में हुई चर्चा में जहां कुछ लोगों ने आदेश के प्रति अपनी निराशा यह कहकर जताई कि न्यायालय और प्रभावी व विस्तृत आदेश दे सकता था- जैसे सरकार को धन आवंटन के लिए कहना, उच्च कक्षाओं तक को संदर्भित करना आदि- वहीं दूसरों का कहना था कि न्यायालयों से उन पहलकदमियों की उम्मीद करना जिनका

दार-ओ-मदार विधायिका व जनचेतना-जनांदोलनों पर है, राजनैतिक अपरिपक्वता भी है और न्यायपालिका के साथ अनुदारता भी।

न्यायाधीश की कुछ टिप्पणियों से सहमत होना भी सम्भव नहीं है। जैसे उनका यह कहना कि निजी स्कूलों में शिक्षक श्रेष्ठ हैं, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने आने वाले मजबूरी में ही आ रहे हैं और आम इंसानों के बच्चों को संपन्न परिवारों के बच्चों के साथ पढ़ने से बेहतर आत्मविश्वास व माहौल मिलेगा। अंतिम दलील न सिर्फ वर्गों-वर्णों के बीच श्रेष्ठता-हीनता के बोध पर टिकी है बल्कि यह सत्ता-प्राप्त तबकों के चरित्र और उस आत्मकथात्मक साहित्य से भी झुठलाई जाती है जिसमें दलित लेखकों ने अपने स्कूली बचपन के कटु अनुभवों को दर्ज किया है (इलैया, 2006; वाल्मिकी, 2003)। यह आशंका भी महत्वपूर्ण है कि उच्च पदों पर आसीन अधिकारियों के बच्चों के सामान्य लोगों के बच्चों के साथ पढ़ने से ही यह भेदभाव खत्म नहीं हो जाएगा।

जिस निरंतरता और जितने पटलों से यह कहा जा रहा है कि सार्वजनिक स्कूलों में बच्चे केवल मजबूरीवश पढ़ने आ रहे हैं उसने काफी हद तक विमर्श में इस मान्यता को एक 'सामान्य समझ' के रूप में स्थापित कर दिया है। न्यायाधीश की तरह ही सार्वजनिक स्कूल व्यवस्था के कई पैरोकार और अन्य चिंतक भी अपने लेखन व संबोधनों में इस अप्रमाणित चित्रण को एक स्थापित सत्य की तरह व्यक्त कर रहे हैं। यह 'च्वॉयस' के उस बाज़ारवादी विचार की अभिव्यक्ति है जिसके अनुसार सार्वजनिक स्कूल (या अस्पताल आदि) में जाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति चुनने के अधिकार का इस्तेमाल कर पाने की स्थिति में नहीं था जबकि निजी स्कूल (या अस्पताल आदि) में जाना यह दर्शाता है कि व्यक्ति ने चयन की स्वतंत्रता का इस्तेमाल किया है। इस संदर्भ में विवाह संबंध विच्छेद से जुड़े बच्चों के लालन-पालन के बारे में (निचली) अदालतों के ऐसे फैसलों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है जिनमें मां द्वारा बच्चे को सरकारी स्कूल में पढ़ाने को ग़ैर-ज़िम्मेदारी का सबूत मानकर पिता के पक्ष में निर्णय सुनाया गया। सम्पूर्ण सार्वजनिक स्कूल तंत्र को लेकर इस तरह के विचार शोध तथा शिक्षा दर्शन की ज़मीन पर बेबुनियाद भी हो सकते हैं और पूर्वाग्रहग्रस्त भी। समस्या तब और गंभीर रूप ले लेती है जब इन्हें अदालतें अपने फैसले सुनाने के लिए आधार बनाकर वैधता प्रदान करने लगें। यह आरोपण खतरनाक तो है ही, क्योंकि इसी को फिर निजीकरण के लिए इस्तेमाल किया जाता है, साथ ही यह अपमानजनक भी है। चयन के अधिकार पर ये सवाल भी उठाए जाते रहे हैं कि यह कितना सुविचारित होता है और कितना कृत्रिम। विभिन्न वर्गों के लिए इसके फलक का विस्तार कितना समान होता है, इससे संतोष प्राप्त करने की संभावना कितनी है आदि (श्वार्ट्ज़, 2005; रैविच, 2010)। इस संदर्भ में एक साथी का यह अनुभव रोचक था कि जब तक उन्होंने इस आदेश के संदर्भ में निजी स्कूलों को बंद करने या राज्य द्वारा अपने कब्ज़े में लेने की बात नहीं की थी, सोशल मीडिया पर उनकी टिप्पणियों को बहुत समर्थन मिल रहा था मगर ऐसा कहते ही वही प्रशंसक चयन के अधिकार के नाम पर उनकी कटु आलोचना करने लग गए।

2011 में तमिलनाडु में एक कलेक्टर का अपनी बेटी को तमिल माध्यम सार्वजनिक स्कूल में दाखिल करने और ब्रिटेन की लेबर पार्टी के नवचयनित नेता के बारे में इन खबरों के बावजूद कि उनका विवाह इसलिए टूट गया था क्योंकि वे अपने बेटे को उस विशिष्ट सरकारी स्कूल की जगह जहां अकादमिक प्रदर्शन के आधार पर छांटे गए बच्चों को ही प्रवेश मिलता है उस सामान्य सरकारी स्कूल में पढ़ाने के पक्षधर थे जहां बिना छंटनी या भेदभाव के सबको दाखिला मिलता है, मनोबल बढ़ाने वाले उदाहरण हैं। फिर भी यह अपेक्षा करना कहां तक उचित है कि समान स्कूल व्यवस्था का समर्थक शिक्षक सार्वजनिक स्कूलों के प्रति सरकार की नीतिगत ग़ैर-ज़िम्मेदारी को देखते हुए अपने बच्चे को सार्वजनिक स्कूल में ही पढ़ाए? जिनके बारे में उसे अच्छी तरह मालूम है कि वहां शिक्षकों को ग़ैर-शैक्षणिक कामों पर लगाया जाएगा, उचित संख्या में सफाईकर्मी तैनात नहीं किए जाएंगे, पानी भी शायद उपलब्ध नहीं होगा, पुस्तकालय-प्रयोगशाला के लिए नियुक्तियां नहीं होंगी और बच्चों को सरकारी प्रचारों-आयोजनों के लिए जबरन इस्तेमाल किया जाएगा।

चयन से ही जुड़ा एक अन्य प्रश्न जिसे कि इस आदेश से बचने के जवाब में आगे किया जाएगा वह भाषा का है, खासतौर से अंग्रेजी माध्यम को लेकर जो कि अधिकतर सरकारी स्कूलों में उपलब्ध नहीं है (गुप्ता, 2015)। निजी स्कूलों के प्रति अंग्रेजी माध्यम के कारण फैलता आकर्षण असल में भारतीय समाज की एक और परिघटना की गवाही देता

है जिसे एम. एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' का नाम दिया था। यह कमज़ोर वर्गों द्वारा प्रभुत्व संपन्न वर्गों की संस्कृति को अपनाने का उदाहरण है और इसमें यह तर्क काम करता है कि सत्ता श्रेष्ठता का सबूत होती है।

अंत में

तर्कशास्त्र के एक सूत्र की भाषा में कहें तो समान स्कूल व्यवस्था समाजवाद के लिए अनिवार्य शर्त तो है पर अपने-आपमें पर्याप्त शर्त नहीं है। अतः जिस हद तक न्यायालय का आदेश समान स्कूल व्यवस्था की भी बात नहीं करता है उस हद तक इसे समतावादी नहीं बल्कि एक सुधारवादी फैसला ही कहा जा सकता है। मगर न्यायालय के आदेश की यह आलोचना हमें कर्म से मुक्त नहीं करती। बेशक, ज़िम्मेदारी में बढ़ोतरी ही करती है। शिक्षा के प्रश्नों को भी केवल शिक्षा व्यवस्था के भीतर के उपायों से हल कर लेने का ख्याल करना एक भ्रम ही है। शिक्षा का कोई भी गंभीर विद्यार्थी इस भ्रम को पालने की अपरिपक्वता का शिकार नहीं हो सकता। भले ही रोज़मर्रा की लौ जलाए रखने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में तल्लीन लोग यह मानना जरूरी समझें कि वे दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं, समय-समय पर शिक्षा की सीमाएं याद रखना हमारी और दुनिया की सेहत के लिए अच्छा ही होगा! अगर रूमानी होना ज़िंदा रहने और निर्माण के लिए जरूरी है तो कठोर हकीकत से रू-ब-रू होना भी संघर्ष के लिए जरूरी है।

हमें यह भी सोचने की जरूरत है कि आज़ाद भारत में कोठारी आयोग (1966) से लेकर बिहार सरकार द्वारा गठित समान स्कूल व्यवस्था आयोग (2007) तक सार्वजनिक स्कूल की अनुशंषाओं के बावजूद हम लगातार उल्टी दिशा में ही क्यों जा रहे हैं, जबकि दुनिया भर के 'विकसित' देशों के ऐतिहासिक अनुभव यह बताते हैं कि शिक्षा के सार्वभौमिकरण व समाज में न्याय-बराबरी-भ्रातृत्व के मूल्यों की स्थापना सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के बिना संभव नहीं है।

इस आदेश की एक परिणति यह हुई कि केस दायर करने वाले एक शिक्षक की सेवा इस तथाकथित कारण से समाप्त कर दी गई कि वह बिना इजाज़त के छुट्टी लेता था (जबकि वह अदालत की कार्रवाई में नियमानुसार प्रस्तुत होता था)। यह प्रदेश की 'समाजवादी' सरकार का चरित्र प्रमाण-पत्र है! चाहे दिल्ली में मुख्यमंत्री से सवाल करने पर शिक्षिका के निलंबन का उदाहरण हो या एक कार्यक्रम के अभ्यास में ही प्रधानमंत्री की अनुपस्थिति में भी उनसे काल्पनिक सवाल करने पर अगले दिन से उक्त शिक्षक को कार्यक्रम से बाहर कर दिए जाने की बात हो, ये प्रसंग सत्ता का स्वभाव चखने और उसकी नज़र में शिक्षकों की बुद्धिजीवी भूमिका की 'औकात' जानने के लिए पर्याप्त होने चाहिएं। ये हम पर मयस्सर है कि हम ऐसी घृणास्पद सत्ता के आगे नतमस्तक होते हैं या उसका तिरस्कार करते हुए उसे चुनौती देते हैं। ◆

संदर्भः

इलैया, कांचा (2006), मैं हिन्दू क्यों नहींः हिन्दुत्व दर्शन, संस्कृति और राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक शूद्रवादी विश्लेषण, कोलकाता, साम्य प्रकाशन।

गुप्ता, विकास (अगस्त 29, 2015), समावेशीकरण का आह्वान यह हस्तक्षेप, राष्ट्रीय सहारा।

श्वार्ट्ज़, बैरी (2005), पैराडॉक्स ऑफ च्वॉइसः वाई मोर इज लेस, न्यूयॉर्कः हार्पर पेरेनियल।

रैविच, डियाने (2010), दि डेथ एण्ड लाइफ ऑफ ग्रेट अमेरिकन स्कूल सिस्टमः हाउ टेस्टिंग एण्ड च्वॉइस इज अंडरमाइनिंग एजुकेशन, न्यूयॉर्क, बेसिक बुक्स।

वाल्मिकी, ओमप्रकाश (2003), जूठन, कोलकाता, साम्य प्रकाशन।

लेखक परिचयः

मनोज चाहिलः दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में शोधार्थी के रूप में अध्ययनरत हैं।

फिरोज अहमदः दिल्ली के एक सरकारी स्कूल में बतौर शिक्षक कार्यरत हैं।